

स्त्री हिंसा क्यों नहीं रुकेगी

विकास नारायण राय

दि संबर् 2012 के वीभत्स दिल्ली बलात्कार कांड के अदालती फैसले की छाया में स्त्रियों के विरुद्ध हिंसा ज्यों की त्यों जारी है। सारे समाज को उद्वेलित करने वाले इस कांड के तुरंत बाद न्यायमूर्ति वर्मा कमेटी की कठोर संस्तुतियां आईं और संसद द्वारा पारित कड़े दंड भी लागू हो चुके हैं। तो भी स्त्री की आज की दुःस्वप्न जैसी स्थिति हम सभी को याद दिलाने के लिए पर्याप्त है कि पुरुष आश्रित राखी व्यवस्था या स्त्री छुपाऊ घुंघट/बुर्का व्यवस्था की तरह ही अपराध एवं दंड पर आधारित कानून व्यवस्था भी कुछ खास नहीं कर पा रही है। ऐसे पांच मुख्य कारण देखे जा सकते हैं जो स्त्री पर होने वाली यौनिक हिंसा के चलते रहने के पीछे हैं। दोषियों की तुरन्त गिरफ्तारियों एवं सजाओं के बावजूद; ऐसे मामलों के विरोध में सामाजिक ऊर्जा के निरंतर विस्फोटों के बावजूद; मीडिया में व्यापक छानबीन एवं संसदीय आक्रोशों के बावजूद; और उपरोक्त दंड-विधानों के लागू होने पर भी; यौनिक हिंसा के सतत भय से मुक्ति नहीं है।

पहला कारण है कि लैंगिक अपराध, जो यौनिक अपराध की जड़ में हैं, दंड-संहिता के रडार पर ही नहीं हैं। दूसरा कारण है, समाज में हो रहे यौन-विस्फोट और उपलब्ध यौन-शिक्षा के बीच की लम्बी-चौड़ी खाई। तीसरा और चौथा कारण पितृसत्ता के ही दो पहलू हैं- मर्दाने/दिखावटी उपायों का सुरक्षा तंत्र और लैंगिक चेतना से शून्य अपराध-न्याय व्यवस्थाकर्म। पांचवां कारण है, भारतीय समाज में पुरुष का ऐसा पोषण/अनुकूलन जो स्त्री के लैंगिक उत्पीड़न/शोषण पर फलता-फूलता रहा है, और पुरुष को संभावित यौन अपराधी बन जाने का झुकाव देता है।

मुंबई, दिल्ली जैसे महानगरों में एक सम्बद्ध कारक यह भी है कि सारे देश से विविध पृष्ठभूमियों वाले आगन्तुकों को वहां की जीवन शैली से परिचय कराने वाले संवेदी मंच नहीं हैं। एक तरह से यह समाज में यौन शिक्षा के अभाव का ही विस्तार है। कहने को स्त्रियों के विरुद्ध हिंसा को लेकर कानूनों की कमी नहीं है पर उनसे न तो अपराधियों पर अंकुश लगता है और न ही पीड़ितों को राहत मिलती है। कारण, इन कानूनों का इतना पेचीदा होना है कि वे अपने उद्देश्य तक सीधे रास्ते पहुंच ही नहीं सकते। 'कानून का शासन' की चमक

अदालती निर्णयों में तो कौंधती रहती है पर 'कानून की भूमिका' हिंसक अधेरगर्दी से पीड़ितों को कुछ खास राहत नहीं दिला पाती।

अपराध-न्याय व्यवस्था के बढ़ते मर्दानेकरण से भी शायद ही कोई मदद मिली हो। दंड क्षमता, राज्यकर्मियों की जवाबदेही, पुलिस की उपस्थिति तथा पेशेवर कौशल पर राजतन्त्र का जोर एक सीमा तक ही परिणाम दे सकता है क्योंकि इन कदमों में लैंगिक समानता/स्वतंत्रता के मुद्दों की उसी तरह अनदेखी की गयी है जैसे पारम्परिक रूप से सारा जोर केवल स्त्री की यौनिक पवित्रता पर हुआ करता था। इसी के समानान्तर महिला थानों/लाडली स्क्रीमों जैसे दिखावटी या सजावटी किस्म के उपाय हैं जो स्त्रियों को अलग-थलग या आश्रित रखकर उनकी सुरक्षा सुनिश्चित करना चाहते हैं। ये न तो स्त्रियों के लिये समान अवसरों एवं अधिकारों की बात करते हैं और न उन्हें निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी एवं सामयिक विवेक के लिए तैयार करते हैं।

यह विसंगति नहीं है कि अधिकांश यौनिक हमले उन्हीं लोगों द्वारा किये जाते हैं जिनका पीड़ितों से नाता भरोसेवाला होता है- अभिभावक, रिश्तेदार, पड़ोसी, रखवाले, शुभचिन्तक, पुरुष-मित्र, अध्यापक, डाक्टर, कोच, मार्गदर्शक, राजनेता, पुलिस, वकील, विश्वासपात्र, आध्यात्मिक गुरु इत्यादि। वे ऐसा इसीलिये कर पाते हैं कि पीड़ित को यौनिक मामलों में 'नासमझ' और 'खामोश' रहना ही सिखाया जाता है। उसका पालन-पोषण उसके लिए शायद ही कोई बच निकलने का रास्ता छोड़ता है। यही प्रमुख कारण है कि राज्य के लिये भी ऐसे मामलों में रोकथाम के उपाय कर पाना संभव नहीं होता।

यह भी कोई विसंगति नहीं कि यौन अपराधियों की कोई खास पहचान नहीं होती। स्त्री, जाने-पहचाने सहकर्मी के साथ भी उतनी ही असुरक्षित हो सकती है जितनी एक अपरिचित सहयात्री के हाथों। उसे परिवार में भी उसी तरह स्वयं की सुरक्षा पर खतरा हो सकता है जिस तरह बाहरी दुनिया में। मर्द का यौनिक उच्छ्रंखलता के रास्ते पर चल पड़ना इसीलिये स्वाभाविक बन जाता है क्योंकि वह स्त्री के लैंगिक शोषण में तो लिप्त होता ही है। ऐसे बहुतायत संभावित अपराधियों से सामना होने पर स्त्री को उसका लैंगिक सशक्तिकरण ही बचायेगा, न कि कानून व्यवस्था की मशीनरी। दिल्ली बलात्कार कांड के दौर

मुंबई, दिल्ली जैसे महानगरों में एक सम्बद्ध कारक यह भी है कि सारे देश से विविध पृष्ठभूमियों वाले आगन्तुकों को वहां की जीवन शैली से परिचय कराने वाले संवेदी मंच नहीं हैं।

एक तरह से यह समाज में यौन शिक्षा के अभाव का ही विस्तार है। कहने को स्त्रियों के विरुद्ध हिंसा को लेकर कानूनों की कमी नहीं है पर उनसे न तो अपराधियों पर अंकुश लगता है और न ही पीड़ितों को राहत मिलती है। कारण, इन कानूनों का इतना पेचीदा होना है कि वे अपने उद्देश्य तक सीधे रास्ते पहुंच ही नहीं सकते। 'कानून का शासन' की चमक अदालती निर्णयों में तो कौंधती रहती है पर 'कानून की भूमिका' हिंसक अधेरगर्दी से पीड़ितों को कुछ खास राहत नहीं दिला पाती।

को याद कीजिए। तत्कालीन पुलिस कमिश्नर ने कहा था, "हम और भला क्या करते!" देखा जाय तो दिल्ली पुलिस ने खासी पेशेवर क्षमता दिखाई थी। मौके पर पहुंचने, पीड़ित को अस्पताल ले जाने, तमाम बयानात लिखने एवं साक्ष्य जुटाने, नामालूम अपराधियों को तुरंत पकड़ने और केस को अदालत में भेजने व अपराधियों को सजा दिलाने की पैरवी करने, हर पक्ष में उनका योगदान प्रशंसनीय कहा जायेगा। पर उस दौर में दिल्ली में शायद ही ऐसा कोई नागरिक मिलता जो पूरी तरह से दिल्ली पुलिस को कोस नहीं रहा था। दरअसल, एक लोकतान्त्रिक समाज में पेशेवर क्षमता ही अकेले दम काफी नहीं है। जरूरी है कि राज्य की पुलिस जैसी एजेंसियां लोकतांत्रिक संवेदीकरण और सामुदायिक रुझान को भी अपनी कार्यशैली का एकीकृत अंग बनायें। पुलिस कमिश्नर का कहना तकनीकी रूप से बेशक सही हो पर वह लोगों में सुरक्षा की भावना नहीं भर सकता। पुलिस ही नहीं, अपराध-न्याय व्यवस्था की अन्य एजेंसियों के कर्मों भी लैंगिक मामलों में एक ऐसा नाकारा हार्डवेयर साबित होते हैं जो लैंगिक चेतना के आधुनिक सॉफ्टवेयर से मेल नहीं खाता। पुलिस को तो निश्चित रूप से ही 'संवैधानिक अनुकूलन' में गहन प्रशिक्षण की आवश्यकता है।

भारतीय समाज भी बेशक बलात्कारों के दोषियों के लिए बदले भरी सजाओं का पैरोकार रहता है, पर उसे भी यौन हिंसा से मुक्ति में साझेदारी की भूमिका की दरकार

है। उसे समझना होगा कि लैंगिक उत्पीड़न ही यौनिक उत्पीड़न की जमीन तैयार करता है। अधिकांशतः, यह स्त्री के दैनिक जीवन का एक हिस्सा है- पैतृक सम्पत्ति से वंचना; घरेलू हिंसा एवं अमानुषिक घरेलू-श्रम; भेदभाव वाला पालन-पोषण; शादी एवं कैरियर का थोपा जाना; कार्यस्थल पर उत्पीड़न; निर्णय प्रक्रिया एवं मुख्यधारा से बाहर होना; पुरुष से कम वेतन; पत्नी की आय को हड़पना; नेतृत्व/सेना/पुलिस/सुरक्षा जैसे उत्तरदायित्वों से मर्दाने मापदंडों के आधार पर स्त्री को वंचित रखना; देहज-दानव; भ्रूण-हत्या; मॉरल पुलिसिंग; तेजाबी हमले; 'ऑनर किलिंग'; आश्रित; कमजोर; 'इज्जत' की जवाबदेही, एक लगभग अन्तहीन सूची है। पर यह सूची ऐसी भी नहीं कि इसका अन्त न किया जा सके। लेकिन आज की स्थिति में इनमें से अधिकांश उत्पीड़नों को अपराध की श्रेणी में रखा ही नहीं गया है। समयबद्ध राहत का तो सवाल ही नहीं।

राजतन्त्र भी कम फंसा हुआ नहीं है। जो समाज यौनिक हिंसा को लेकर इतना उद्वेलित रहता है, लैंगिक हिंसा पर चुप्पी साध लेता है। ये पितृसत्ता के ही दो रूप हैं। यौनिक हिंसा जहां पितृसत्ता के चेहरे पर एक बदनमा दाग नजर आती है वहीं लैंगिक हिंसा इसी पितृसत्ता की गतिकी से खुराक पाती है। इस समीकरण से राजतंत्र को पूरी तरह पितृसत्ता के मुकाबले खड़ा होना चाहिये। पर उसमें यह हिम्मत नहीं। दुनिया की कई लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं की तरह क्या हमारे यहां भी एक ऐसी दंड-संहिता नहीं होनी चाहिये जो लैंगिक

अपराधों पर घातक वार कर सके? क्या हमें यौन शिक्षा की एक ऐसी सार्वभौमिक प्रणाली नहीं अपनानी चाहिये जो घर एवं बाहर के, घात में बैठे, यौनिक खतरों को पहचानने व उनसे उबरने में सहायक हों?

महिला सशक्तिकरण की एक पहचान यह भी बनेगी कि सारी सहूलियतें जरूरतमंद के दरवाजे पर चल कर आएँ। न्याय भी, यानी पुलिस, अदालत, क्षतिपूर्ति, परामर्श, चिकित्सा, पुनर्स्थापन, इत्यादि पीड़ित तक स्वतः पहुंचे न कि पीड़ित उन तक पहुंचने के लिये दर दर की ठोकरें खाएँ। यदि लड़की को पैतृक सम्पत्ति में किसी भी कारण से हिस्सा नहीं मिलता तो उसका भाग राज्य के हवाले होना चाहिए। घरेलू हिंसाकर्ता को तब तक के लिये बतौर रोकथाम हिरासत में रखा जाय जब तक कि पीड़ित उसे भविष्य में पूरी तरह सदव्यवहार का प्रमाणपत्र न दे दे। शादी या कैरियर थोपना दंडनीय बना दिया जाए। कन्या-भ्रूण गिरने का यदि सन्तोषजनक डाक्टर लेखा-जोखा न हो तो वह एक स्वतः अपराध हो। एक ऐसी ही कठोर दंड संहिता आज भारतीय समाज को चाहिए।

ऐसा नहीं है कि स्त्री अपने पर थोपी हिंसा का मुकाबला नहीं कर रही। आज इतने गैंग-रेप इसलिये भी हैं क्योंकि एक अकेला मर्द 'शिकार' पर निकलने की हिम्मत नहीं जुटा पाता। आज रिश्तेदारों, फरेबी साथियों, धर्मगुरुओं एवं करीबी परिचितों के विरुद्ध मामलों को सामने लाया जा रहा है क्योंकि कानूनी प्रणालियां लगातार पीड़ित के हक में बदल रही हैं। यौनिक हमलों में हो रही पाशविकता इस ओर भी संकेत करती है कि पीड़ित के प्रतिरोध ने दरिद्रों की 'मर्दानगी' को कितनी ठेस पहुंचाई होगी। हालांकि यौनिक हिंसा का जमकर मुकाबला करने वाली स्त्रियां भी लैंगिक हिंसा सहती ही रहती हैं, पर तेजाबी हमलों और 'ऑनर' किलिंग का शिकार होने वालों का दृढ़ निश्चय डिगता नहीं है। ऐसे दृष्टांत भी बढ़ते जा रहे हैं जहां पैतृक सम्पत्ति में अपना दावा करने के लिये स्त्रियां अदालतों में जा रही हैं।

निचोड़ के रूप में कहा जा सकता है कि महज मर्द की नैतिकता एवं राज्य की सजगता के सहारे स्त्री की रक्षा नहीं हो सकती है। कानूनी एवं नैतिक प्रणालियां सीमित रूप से ही प्रभावी हो पाती हैं; स्त्री का लैंगिक सशक्तिकरण इसे पूर्णता प्रदान करेगा। जाहिर है इतने बड़े बदलाव को हासिल करने के लिए पुरुष एवं स्त्री दोनों को भावनात्मक पीड़ा एवं भौतिक परेशानियों के दौर से गुजरना होगा; यही सही। ■

मोदी क्या-क्या बाटिगा: भाजपा तो बांट दी, देश की बारी है

गु गुजराती समाज को बांट कर वह गुजरात का मुख्यमंत्री बना। भारतीय जनता पार्टी को बांट कर वह पार्टी का प्रधानमंत्री पद का उम्मीदवार बना। अब देश को बांट कर वह प्रधानमंत्री बनने की जुगाड़ में है। ऐसा नरेंद्र मोदी जब प्रधानमंत्री बन जायेगा तो क्या देश में बंटवारे और आतंक का एक नया दौर नहीं शुरू होगा?

आज का मोदी बहुत से ऐसे विषयों पर एक अलग ही राग अलापता नजर आ रहा है। कभी वह अपनी पूर्व की 'गलतियों' का जिक्र कर देता है; कभी अल्पसंख्यकों की चिंता में शामिल हो जाता है; और यहां तक कि कभी वह यह कहने लगता है कि उसे 2017 तक गुजरात की जनता ने मुख्यमंत्री चुना है, लिहाजा वह तब तक मुख्यमंत्री ही रहना चाहेगा। ढकोसलेबाजी में मोदी के माहिर होने को उसके उपरोक्त बयान बल देते हैं। वह इन तीन बयानों में क्रमशः संविधान, अल्पसंख्यकों तथा भजपा की भावनाओं को ब्लैकमेल कर रहा है। मोदी को हर हाल में प्रधानमंत्री

की कुर्सी चाहिये और इसकी कीमत भारतीय संविधान, भारतीय मुसलमान, भारतीय जनता पार्टी को चुकानी है। भाजपा से आपका सैद्धान्तिक मतभेद हो सकता है पर उस पार्टी की अपनी गतिकी में ऐसी विशेषता रही है कि उसमें श्यामाप्रसाद मुखर्जी, दीनदयाल उपाध्याय, अटल बिहारी वाजपेयी, लालकृष्ण आडवाणी जैसे व्यापक व्यक्ति एवं सोच वाले नेतृत्व को पनपने का अवसर मिलता रहा है। पार्टी में मोदी जैसे टुच्चे व्यक्तित्व के छा जाने से यह दौर समाप्त हो जायेगा।

ऐसा नहीं है कि भाजपाई नेतृत्व में ऐसे लोग नहीं हैं जो अवसर मिलने पर व्यापक गुणों का प्रदर्शन नहीं कर सकते पर मोदी का शैतानी जलवा उन जैसों को पूरी तरह संभावना विहीन बना देगा। मोदी का आगमन पार्टी में एक ऐसे दौर की शुरुआत करेगा जिसमें भाजपा के अंदर चाटुकारिता, दरबारगिरी, सत्ता-केन्द्रीयता, निरंकुशता, लफ्फाजी, चुगलखोरी, कैम्पबाजी, बदलेबाजी इत्यादि का बोलबाला होगा। जब मोदी जैसा सत्ता के



सिंहासन पर विराजमान होगा तो उसके इर्द-गिर्द बौनी सोचवाले ही पनप सकते हैं। वट वृक्ष के नीचे कम से कम छाया तो मिलती है; मोदी जैसे कुकुरमुते भला क्या छाया देंगे?

मोदी के आने से मुसलमानों को साम्प्रदायिक दंगों का भय उतना नहीं है जितना इस बात का कि मोदी की नीतियों से हिन्दू और मुसलमान दोनों तबकों में फ़िरकापरस्तों को जबरदस्त शह मिलेगी।

यह देश में अस्थिरता का दौर लायेगा। विश्व हिन्दू परिषद, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ शिव सेना जैसे संगठन हिन्दू समाज को सांस्कृतिक बिलों में धकेलेंगे। दूसरी तरफ़ मुसलमानों में सिमी, अलकायदा तालिबान जैसों की घुसपैठ तेज हो जायेगी। दोनों का खामियाजा आम मुसलमान को भुगतना पड़ेगा।

भारतीय संविधान तो शायद बचे ही न मोदी के दिल्ली में सत्तानशीन हो जाने पर। संविधान की तीन मूल्यवान् निधियां हैं-बहुलता, सहनशीलता, लोकतन्त्र। मोदी इन तीनों की छुट्टी करके ही मानेगा। इन तीन निधियों के बिना एक आधुनिक भारतीय राष्ट्र की कल्पना भी मुश्किल है। लिहाजा, देश का भैतिक विकास यदि न भी प्रभावित हो पर उसके सामाजिक आधार की नींव तो खिसक ही जायेगी,

भारत जैसे विविधतापूर्ण एवं विशाल देश का नेतृत्व सफलतापूर्वक करने के लिये एक सही एवं संतुलित अगुआ की जरूरत है। इस कसौटी पर यदि मोदी को कसें तो एक ऐसे शख्स की तस्वीर सामने

आती है जिसने अपने समर्थकों को लगातार धोखा दिया है। गुजरात पुलिस के अधिकारी डी जी वनजारा ने मोदी की नेतृत्व क्षमता पर ही सवाल उठाये हैं। वनजारा समेत 32 पुलिसकर्मी गुजरात की विभिन्न जेलों में कत्ल व अपहरण के मुकदमों भुगत रहे हैं। इस तरह जेल में होना उनकी नियति बना क्योंकि मोदी के इशारों पर उन्होंने फ़र्जी मुठभेड़ें करके मोदी को 'लौहपुरुष' की छवि दिलाने में मदद पहुंचाई थी। अब मोदी तो चल दिया दिल्ली की राह और इन पुलिस वालों को जेल से मुक्ति की कोई आशा नजर नहीं आती।

तमाम अहम विषयों पर तो मोदी ने जान बूझ कर अपना मुंह खोला ही नहीं है। भ्रष्टाचार, महिला सशक्तिकरण, आदिवासी, रोजगार, प्रशासनिक सुधार, कार्पोरेट लूट इत्यादि ज्वलंत विषय जैसे मोदी के लिये कोई अर्थ ही नहीं रखते। साम्प्रदायिक एवं जातीय दंगों पर वह मुंह ही नहीं खोलता। विदेश नीति एवं आर्थिक नीति की तो जैसे उसे समझ ही नहीं है। क्या इस नरेंद्र मोदी को देश सह पायेगा?